समानधर्मा

हितेश व्यास

चर्चा प्रकाशन, जोधपुर

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के
आर्थिक सहयोग से प्रकाशित



प्रथम संस्करण : 1985

मूल्य : बीस रुपये

प्राप्ति स्थल : हितेश व्यास
2 च-1, नंदनवन नगर, जोधपुर—342008

मुद्रक : आलोक प्रेस, जोधपुर

SAMANDHARMA -Poems Hitesh Vyas

आयासहीन विलक्षणता की सर्जनात्मक परिणति

वाल्मीकि के नाम के साथ क्रौंच-वध का प्रसंग जुड़ने का एक परिणाम यह हुआ है कि भारत में काव्य-रचना बहुत गम्भीरता से ली जाने लगी। उसमें न केवल अनुभूति की तीव्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो उठी, अनुभूति की प्रामाणिकता की महिमा भी इतनी बढ़ गई कि कल्पना की भूमिका संदिग्ध प्रतीत होने लगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनस्वी आलोचक भी छायावाद के कल्पना-वैभव को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देख पाए। **हिंदी साहित्य का इतिहास** में उन्होंने लिखा है . "रहस्य-भावना और अभिव्यंजन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी। जिस प्रकार अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्र भावानुभूतियों की कल्पना भी बहुत-कुछ होने लगी।" अनुभूति-पक्ष की प्रबलता इतनी अधिक हुई कि काव्य को शब्द-संरचना के रूप में परिभाषित करते हुए भी रसानुभूति उसकी मुख्य कसौटी बन गई। जिन्होंने काव्य-जीवित के रूप में रस को स्वीकार नहीं किया वे भी, कल्पना को काव्य के केन्द्र में न रखने के कारण, शब्द की सम्भावनाओं के चाहने के स्थान पर उसके चमत्कारपूर्ण खिलवाड़ की ओर मुड़ गए। ऐसी स्थिति में पश्चिमी साहित्य से परिचय होने तक कल्पना की अनंत भंगिमाओं की सम्भावना को सामने रखकर शब्द के अर्थ-सम्बंधों की अपूर्वता के विचार से हम अपरिचित रहे। छायावाद तक भी अनुभूति कल्पित होने की शिकायत के बावजूद काव्य में प्रबलता अनुभूति की ही रही।

छायावाद के बाद ही काव्य में शब्दों के नये अर्थ-सम्बधों की खोज का पथ प्रशस्त हुआ और सर्जन की सम्भावनाओं की अनंतता स्वीकार की जाने लगी। आज की कविता में शब्द की सर्जनात्मक क्षमता जो इतने अधिक रूपों में सामने आ रही है, हर इस नई रचना-दृष्टि का परिणाम है।

हितेश की कविता काव्य-रचना की लीक से इतनी हटी हुई है कि एकाएक उसका कवित्व हाथ नहीं लगता। कविता के सम्बंध में भारी-भरकम धारणाएँ रखने वालों को लग सकता है कि वे शब्दों से खेलते है। इसमें संदेह भी नहीं है कि हितेश को शब्दों का तमाशा प्रिय है; लेकिन इस बात की शिकायत तभी वँध हो सकती है जब शब्दों के खेल मे सर्जनात्मकता का अभाव हो। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो लगेगा कि उन्होंने शब्दों से खेलते हुए सर्जन के नए आयाम उद्घाटित किए हैं।

बात यह है कि हितेश अपने व्यक्तित्व की भिन्नता के विषय में बहुत आश्वस्त हैं। इसी कारण वे न तो बड़प्पन के किसी आभा-मंडल से अभिभूत होते हैं न अपने-आपको प्रतिष्ठित करने के लिए प्रशंसकों की मंडली को महत्व देते है। इस अर्थ में वे भीतर तक जनतंत्री हैं कि उनकी दृष्टि मे प्रत्येक व्यक्ति समान सम्मान का अधिकारी है। जो स्थिति किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से विशिष्ट बनाकर उसे उनकी तुलना में अधिक मान देती है वह हितेश को प्रिय नहीं लगती। 'मंच' शीर्षक कविता मे उन्होंने मंच और प्रेक्षागृह के मध्य 'विशिष्ट' और 'हीन' के पार्थक्य की तिक्तता अनुभव करते हुए लिखा है।

आखिर कब तक हम
गोदों के इन्तज़ार में
सामने के मंच की ओर
ताकते रहेंगे
और नेपथ्य से आने वाले
उल्लू के पट्ठों से सम्बोधित होते रहेंगे ?

आत्मसम्मान की इसी भावना ने हितेश को 'मण्डली' का अंग बनने के विरोध में आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित किया है। हितेश की 'मंडली' विषयक परिकल्पना नितांत निजी अनुभव से उद्भूत है और उसमे कुछ निजी संदर्भ भी समाहित हैं जिनके माध्यम से उन्होंने अपना यह मंतव्य व्यक्त किया है कि साहित्यकारों की मंडलियाँ कई बार बहुत सामान्य कोटि के लोगों की भी हो सकती हैं, फिर भी उनमें व्यक्तित्व के प्रकृत उन्मेष के स्थान पर किसी को प्रतिष्ठित करने का प्रयास समूह के स्तर पर किया जाता है :

मंच मसीहा बनाता है मेरे दोस्त
चाहे वे कुर्सियाँ हों किसी केन्द्र की

या मंगल सिंह की गुड्डियाँ
कई चेहरे जब एक चेहरे के इर्द-गिर्द होते हैं
प्रभामण्डल बनाते हैं
प्रभामण्डल चेहरों का कमंडल नहीं है
वह तो है एक तेजोदीप्त चेहरा
एक न-कुछ सब-कुछ बन जाता है

अपने अकेलेपन मे सार्थकता का अहसास जिस आत्मविश्वास की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है, वही हितेश की काव्य-सर्जना की मूल भूमि है। उनके अकेलेपन की चेतना न तो उन्हें अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि की ओर ले गई है न उसके कारण वे सामाजिक परोपकारो से कटे है। अनेक कविताओं मे उन्होंने सामाजिक स्थितियों को अंकित किया है। 'वे उपवास कर रहे है' मे उन्होंने भूख से मरे हुओं के दुःख मे किए जाने वाले उपवासो की पोल खोली है और 'काम मे लगे तमाम दोस्तों के नाम' कविता मे सफल लोगों की जड़ता को उघाड़ते हुए उस बेचैनी को वाणी दी है जो असफल व्यक्ति को गतिशील व्यक्तित्व प्रदान करती है। सफलता की सीधी सड़क पर चलने वालों के विरुद्ध उनके काव्य-नायक को अपनी संघर्षशीलता पर गर्व है :

चेहरे पर दौड़ती है पगडंडियाँ अनगिनत मेरे
तुम्हारी राह है सुलझी हुई-सी
स्पष्ट दिशा है तुम्हारे गंतव्य की

फिर भी वे बड़े सरोकारो से कविता को बड़प्पन देने के फेर में नही पड़े है। अपने-आप को छोड़ कर किसी और के सहारे आगे बढ़ने में उन्हे विश्वास नहीं है। भले ही विचारधारा क्यों न हो, वे बैसाखी की तरह उसका उपयोग करने के विरुद्ध है :

कितनी मोहक होती है बैसाखियाँ
कि आदमी छोड़ देता है अपने पाँव
पर बैसाखी बैसाखी है
और पाँव पाँव

परिणामतः उनकी काव्य-चेतना जितनी मनोवैज्ञानिक है उतनी सामाजिक नही। 'चूहों की बात' शीर्षक कविता में उन्होने काव्य-प्रक्रिया चूहे पकड़ने और छोड़ने के सादृश्य के सहारे अंकित की है। इस कविता मे उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि कविता अवचेतन में निहित उद्गारों के चेतन स्तर पर आ जाने से बनती है :

अवचेतन अर्द्ध चेतन उपचेतन मन की
नालियों में रहते ये चूहे
चेतन घर में जब एकांत पाते हैं
नालियों से बाहर चक्कर लगाते हैं

'कागजी कविता' में वे स्वचालित लेखन की बात करते प्रतीत होते हैं। इस कविता में उन्होंने काव्य-रचना को कागज के भीतर से उभर कर सतह पर आते देखा है, मानो वे कह रहे हों कि कविता लिखी नहीं जाती स्वत लिख जाती है। मानो काव्य-रचना कवि के अंत.करण से निसृत न हो कर कागज और स्याही के प्रणय-व्यापार से जन्म लेती हो :

स्याही कर रही है कागज की देह पर संयत विहार
× × ×
कागज भर रहा है, उसका यौवन उभर रहा है
कागज के भीतर से आ रहे हैं
कागज के बाहर कागज पर के आखर

हितेश की अपनी काव्य-रचना में यह प्रक्रिया अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है। मुक्त आसंग या फ्री असोसिएशन, जिसके दर्शन उनके काव्य में रह-रह कर होते हैं इसी काव्य-प्रक्रिया की देन है। घर के फाटक की चर्चा जिस आकस्मिकता के साथ रेल के फाटक की चर्चा की ओर मुड जाती है, मंच और प्रेक्षागृह के मध्य के श्रेणी भेद के स्थान पर प्रेक्षागृह में कान और आंख खुली रखने की बात जिस तरह जुड जाती है, गाड़ी लेट होने की संवेदना जिस प्रकार शून्य की अनुभूति में परिणत हो जाती है, वह सब मुक्त आसंग की देन है।

हितेश जितने आग्रही अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता के विषय में रहे हैं उतनी ही उनकी आस्था रचना को व्यक्तित्व से स्वतंत्र रखने में रही है। यद्यपि इस दिशा में एक सीमा से आगे जाना सम्भव नहीं है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि शब्दों में अपने-आपको उँडेलने के स्थान पर उन्होंने शब्दों को ही अपने साथ के शब्द खोज लेने की छूट दी है। ऐसा होने से उनकी कल्पना का प्रवाह प्रकृत भूमि पर बना रहा है और उनकी रचनाएँ नदियों की तरह बल खाती हुई आगे बढ़ती रही हैं। उनकी कविता में बगीचे की तरह सार-सम्हाल, काट-छांट या सजावट नहीं दिखती तो उसका कारण कविता को यथासम्भव अधिक-से-अधिक अपना रास्ता आप तलाशने देने की मनोवृत्ति है।

इसी कारण अनेक बार ऐसा लगता है कि हितेश रचना नहीं करते, शब्दों को संजोते नहीं, उन्हें केवल जोड़ते रहते हैं। ऐसा उनकी कविताओं में प्रायः होता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके पास कहने के लिए कुछ नहीं है या वे जो कहते हैं वह महत्वपूर्ण नहीं होता। रोचक तथ्य यही है कि वे शब्दों के खेल में ही अपनी बात इस प्रकार कह जाते हैं कि वह बोझिल हुए बिना महत्वपूर्ण बनी रहती है। उनकी एक छोटी-सी कविता है; 'हां' और 'नहीं'। इन्हीं दो शब्दों से छः पंक्तियों की कविता बुनी है और केवल इन शब्दों की आवृत्ति होने से बेतुकी और बेमतलब लग सकती है, लेकिन ध्यान देने से यह बात समझ में आ सकती है कि 'नहीं' और 'हां' के संघर्ष में 'नहीं' की शक्ति क्रमशः बढ़ती जाती है—पहली पंक्ति में केवल एक 'नहीं' है, तीसरी में दो और पांचवीं में तीन; जबकि 'हां' आरम्भ से अन्त तक अकेला रहता है लेकिन 'नहीं' की निरन्तर बढ़ती सख्या के सामने 'हां' अन्त तक अकेला डटा रहता है—'नहीं' की शक्ति तिगुनी हो जाने पर भी उसे विचलित नहीं कर पाती। बिना किसी वाक्य रचना के शब्द से जुड़ते शब्द की शक्ति इस कविता में अनूठे ढंग से व्यक्त हुई है :

नहीं
हां
नहीं, नहीं
हां
नहीं, नहीं, नहीं
हां

वाक्य-रचना के स्तर पर हितेश ने अनेक बार शब्द की लाक्षणिकता में उसकी अभिधा को तिरोहित करते हुए अपनी बात इस तरह कही है कि अर्थ की सगति में अभिव्यक्ति की असंगति लिपटी रही है। आदमी में आग लगने से उसके जंगल बन जाने की कल्पना असंगतलाभासी होते हुए भी बहुत मार्मिक है। आदमी के भीतर की जलन उसके आदमीपन को भस्म कर उसे जंगल बना देती है, यह सचाई हितेश ने शब्दों के जिस अनूठे प्रयोग के माध्यम से कही है उसके कारण उनकी कल्पना की विदग्धता ने कथ्य को मार्मिकता प्रदान की है :

एक था जंगल
एक आदमी
आदमी में लग गई आग

जंगल फैल गया
आग की तरह
झुलस गया आदमी
हो गया जंगल

हितेश की कविताओं में कई बार अटपटे वक्तव्य टँके मिलते हैं, लेकिन उनके अटपटेपन के भीतर गहरा अर्थ समाया रहता है। 'घर' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है : 'घर आदमी होता है, आदमी घर होता है।' शब्दार्थ के स्तर पर यह वक्तव्य अनर्गल लगता है, लेकिन जैसे ही यह बात समझ में आती है कि किसी परिवार में मानवीय सम्बधों की ऊष्मा में ही घर का घर होना सार्थक होता है, वैसे ही कविता का अनर्गलाभास सार्थकता में ढल जाता है और यह उलटबाँसी सुलझ जाती है

आदमी के जो अन्दर होता है
वही तो घर होता है।

अपनी इसी शक्ति के बल पर हितेश ने देवताओं के स्वरूप की कल्पना का उपयोग नए अर्थों के उद्घाटन के लिए किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने देवत्व की गरिमा को व्यंग्य के विद्रूप में विसर्जित कर दिया है। गणेश : स्वरूप का निम्नलिखित निर्वचन दर्शनीय है :

हाथी का मुख रखकर
आदमी का सा मुख तुमने भोगा
खाने के और दिखाने के और
यानी हाथी के दाँत और आदमी की आँत
तुम में रही है
दब्बू चूहों की सवारी तुमने की है
तुम्हारे आस-पास जीवन के भय से भागने वाले
चूहे ही मिलेंगे
कायर चूहों के बीच विराजमान तुम
जिसकी नज़र हमेशा दूसरों के लड्डुओं पर रही है

हितेश की कल्पना यथातथ्यता के अतिक्रमण में रमती है, लेकिन यथातथ्यता का अतिक्रमण वे अतिकल्पना या स्वप्नों के रूप में न करके प्रायः शब्दों की लाक्षणिकता के माध्यम से संवेदना के अनछुए स्तरों को खोल कर करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया उनकी कविता में भाषा के स्तर पर शब्दों के रूढ़ प्रयोग को लाँघ जाती है। 'शहर और मैं' में कवि अस्मिता

से वंचित होने की अनुभूति को अपनी इस भाविक क्षमता के बल पर व्यक्त करने में सफल हुआ है :

या तो मैं नहीं हूं
या शहर नहीं है
शहर तो यही था
शहर तो यहीं है
मैं खो गया हूं
या कि
मैं शहर हो गया हूं।

हितेश की कविता की शक्ति का स्रोत न तो प्रबल भावोद्वेलन में है न शिल्प-सौष्ठव में। उसकी अपनी खूबी शब्दों के आभासहीन साहचर्य के बीच व्यक्त होने वाले उस सौजीपन में निहित है जो जीवन के छोटे-बड़े अनुभवों का साक्षात्कार अपने ही ढंग से करता है और ऐसा करते हुए सम्प्रेषण की आवश्यकता को न नकार कर उसे अनायास साध लेता है। हितेश की कविता इसीलिए उलझी हुई अभिव्यक्ति से बची रह कर उनके पाठक को खुलेपन का अनुभव कराती रहती है। खुलापन जितना भाषा की आडम्बरहीनता का है उतना ही आत्मप्रतिष्ठा की भूख से मुक्त और अनौपचारिक बने रहने का भी है। इस सब के बावजूद रचना की विलक्षणता का जो भान हितेश की कविता में होता है, वही उनकी कविता को एक ऐसा वैशिष्ट्य प्रदान करता है जो सबसे अलग होते हुए भी पाठक को अपने निकट खींच लेता है। ऐसी सर्जनात्मक अपूर्वता बहुत कम कवियों में होती है।

56, गोल्फ कोर्स
जोधपुर (राज.)

—जगदीश शर्मा

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति मेष यत्नः ।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।

—भवभूति

मां रुक्मणी देवी
एवम्
पिता पंडित आर. मूलचन्द्र व्यास
को सादर समर्पित

क्रम

हाँ

नहीं
हां
नहीं, नहीं
हां
नहीं, नहीं, नहीं
हां

(1975)

जंगल, आदमी और आग

एक था जगल
एक आदमी
आदमी में लग गई आग
जंगल फैल गया
आग की तरह
झुलस गया आदमी
हो गया जंगल
एक था जगल
एक आदमी

(1977)

चेहरा

एक चेहरे की तलाश है
हर.एक को
हर एक के पास है
एक चेहरा
एक चेहरा भीड़ में कहीं खो गया है
हो गया है हर आदमी का
एक चेहरा
एक चेहरा हर हाल में बचाना है
पाना है हर आदमी को
एक चेहरा

खो खो

खो खो
खो खो कर पा
पर जो पा
उसे मत गंवा
बहुत अधिक खो
बहुत कम पा
पर जो पा
उसे बचा

(1976)

छोटी छोटी बात

छोटी छोटी बातों पर
मोटा मोटा ध्यान दिया
और तुमने क्या किया
मोटी मोटी बातों को सहन कर गए
मोटे मोटे भार को वहन कर गए
छोटे छोटे बोझ को उठा न सके
छोटे छोटे बोझ से बार बार थके
जीवन को टुकड़ों में जिया
और तुमने क्या किया
छोटी छोटी बातों पर
मोटा मोटा ध्यान दिया

(1976)

पेड़

दृष्टि की सीमा तक विछी रेत पर
ठण्ड और धूप के बीच
खड़े पेड़
तपस्या करने वाले ऋषि हैं
सालों से एक पांव पर खड़े मुनि
स्थिर, धैर्यवान
आधुनिकता मे असम्पृक्त
उपेक्षित, अपेक्षातीत
इनके चेहरो पर झुरियाँ हैं
चमड़ी सूख गई है
भावहीनता की हद तक भाव-शून्यता
ठस रेत के वीच
ठूंठ की तरह जमे है ये
जमते-जमते जड़ हो गए हैं
जैसे कमाऊ बेटों के वीच
अणकमाऊ मा-वाप

(1981)

एक नदी

एक नदी
उछलती है
सामने
ठण्डा समन्दर है
बीच में
बर्फ की दीवार है

(1982)

बस्ती और सन्नाटा

मैं सन्नाटे की बस्ती में बैठा था
तुम बस्ती के सन्नाटे से आए
मैं तुम्हारी बस्ती से घबराया
तुम मेरे सन्नाटे से घबराए
तुम्हारे और मेरे बीच सन्नाटा-सा छा गया
बस्तियों से गुजरते हुए वीराना आ गया
तुमने बातों की बस्ती से
सन्नाटे का वीराना तोड़ा
तुम्हारी बस्ती से मैंने
अपने सन्नाटे को जोड़ा
तुम्हारे और मेरे बीच एक बस्ती बस गई
कहीं गहरे में सन्नाटे की देह धँस गई
तुमने क्या लिया
मैंने क्या दिया
तुम क्या गये कि तुम तक
मेरा सन्नाटा चला गया
एक बस्ती के हाथों
एक सन्नाटा छला गया

(1977)

एक आग

होली के दर्शन तुम उस समय करो
जब लपटें अनन्त में विलीन हो चुकी हों
और गली-मौहल्ले के लोग
बचे हुए खीरों को
अपनी-अपनी सिगड़ियों में भर रहे हों
या उन पर अपने-अपने भगोनों में
पानी या चाय गरम कर रहे हों
उस मुहूर्त में नहीं
कि जब होली का किया जाता है मंगलीकरण
अग्निहोत्रियो !
तुम जीवन भर बाहर की आग क्या लिए-लिए फिरते हो
तुम्हारे अग्निहोत्रत्व की सार्थकता
भीतर की आग जलाये रखने में है
राख ढके अंगारों में तुम आग खोजते हो
वह राख नहीं है
चुका हुआ यौवन है
बुढाए हुए अंगारों में तुम्हें आग नहीं मिल सकती
सिर्फ चिनगारियों, लपटों और अंगारों
में ही आग नही जला करती है
ऊपर उठती हुई आग की छोटी व बड़ी सभी लपटें
आकाश की उस आग की तरफ दौड़ती हैं
जिसे हम आप सूरज कह कर पुकारते है
ये लपटों का लपकना
उनकी अपनी पूर्णता की तलाश है
जो सिर्फ शून्य में ही नही है

अपनी इस धरती पर आदमी औरत में
औरत आदमी में
अपने पूरेपन को न जाने कब से खोज रहे हैं
कबसे आग आग में मिल रही है
लेकिन इन चिनगारियों का हिसाब उल्टा है
ये कितनी ही ऊंचाइयां क्यों न तय करले
गिरेंगी नीचे ही
सावधान तो इन निम्नगामी चिनगारियों से रहना है
चिनगारी आग नहीं है
चिनगारी आग जलाती नहीं, भड़काती है
आग आग है
चाहे वो चूल्हे की हो या चिता की
चूल्हे की आग
रोज इसीलिये जलाई जाती है
ताकि अनवरत अभ्यास के फलस्वरूप
चिता की आग जलाने में कोई दिक्कत न हो
आग जलने पर तुम कूआ मत खोदना
कूए में मिलेगी तुम्हें आग
उसे बुझाने के लिए तुम क्या खोदोगे ?
हर साल हमने कागज का रावण इसलिए जलाया
हमारे भीतर का रावण अभी तक जल नहीं पाया
सबके भीतर एक धधकता हुआ ज्वालामुखी है
सभी शब्द उसी के अंगारे हैं
कविता अंगारों की शृङ्खला है
कविता को चिनगारी मत बनाओ
कविता आग उकसाने वाली चिनगारी नहीं है
कविता आग की लपलपाती लपट है
उसे लपट रहने दो
जो आग भीतर बाहर बह रही है
उसे निर्बाध बहने दो—उसे निर्बाध बहने दो

(1975)

आग दो

जब मैं आग को देखता हूं
मुझे आग की उष्णता की ही अनुभूति नहीं होती
उसके पीलेपन का भी बोध होता है
लगता है
आग उदास है
उसे अपनी मौत का आभास है
कहीं आग एक नशा है
कहीं हादसा है
आज आग है
आज का भविष्य आग है
आग है लपलपाती जीभ है
आग है मुक्ति की छटपटाहट है
आग है मिलन की अकुलाहट है
आग है चुनौती है
आग है सबके भीतर का रूप है
आग है मन की धूप है
धूआं आग की छाया है
धूआं आग की भीतरी काया है
धूआं आग के भीतर का अंधेरा है
धूआं हर आग का भविष्य है
धूआं आग की मृत्यु है
धूआं आग की डोर है
धूआं आग की संतान है
धूआं आज की संतान है
कविता रोम रोम की आग का घनीभूत रूप है

कविता रन्ध्र रन्ध्र की आग का अनुभूत रूप है
लपटें बताती हैं ऊँचाइयों की सीमा है
ऊँचाइयों का स्वर कहीं जाकर धीमा है
जिसे अनन्त में मिलना है वह आग नहीं धूआं है
अनन्त को आग ने नहीं, धूएं ने छूआ है
हर आग का भविष्य राख है
राख ही आग की साख है
जोत आग की लगन है
जोत कि आग तब मगन है
जोत अकेले का सफर है
जोत अकेले की डगर है
जोत कि संकल्प साकार है
जोत कि अह का विस्तार नहीं है
जोत कि अह का सीमा बद्ध बोध है
जोत गुरुता का विरोध है
जोत अंधेरे का सूरज है
जोत है कि संघर्ष ठीक नहीं है
जोत है कि सहयोग का प्रतीक है
जहाँ आग है वहाँ बहुत कुछ मिट रहा है
जहाँ आग है वहाँ अंधेरा नहीं है
जहाँ अंधेरा है वहाँ आग का डेरा नहीं है
हर आग अंधेरे को डसती है
हर अंधेरे में सोयी हुई आग की बस्ती है
आग और अंधेरा जीवन का क्रम है
आग और अंधेरा जीवन का भ्रम है
तुम संभलो !
तुम चेतो !
तुम अगवानी करो
कि आग आ रही है

(1975)

वैसाखियाँ और पांव

यादों के किसी मोड़ पर
मैं अपने पांव छोड़ आया हूं
जहाँ तुम्हारी वैसाखियों ने
बन कर के पांव
दिया था ठांव
आज फिर से गुजरना होगा
अतीत के रस्ते पर
पहुंचना होगा
यादों के उस मोड़ पर
जहाँ मैं अपने पांव छोड़ आया हूं
कितनी मोहक होती है वैसाखियाँ
कि आदमी छोड़ देता है अपने पांव
पर वैसाखी वैसाखी है
और पांव पांव
चलना
छलना है
चलने से कब मिली है सबको मंजिल
पर यहाँ कौन रुकता है
कुछ भी हो आदमी चलेगा
कभी पांव और कभी वैसाखियों के नाम पर
खुद को छलेगा
पर आदमी चलेगा
तुमने मुझे वैसाखियाँ दीं
धीरे - धीरे मैं
अपने पांव होने के अहसास को भूलने लगा

वक्त की दौड़
अपने ही पांवों के सहारे तय की जाती है दोस्त
वैसाखियों के सहारे
ज़िन्दगी को घसीटा तो जा सकता है
पर ज़िन्दगी चल नहीं सकती
वैसाखियां जब छीन ली जाती हैं
या छूट जाती हैं
या कि अभ्यस्त होने पर
उन्हें छोड़ देता है आदमी
तब गिरने और गिरने के अलावा कुछ नहीं होता
क्योंकि
पांव तो बहुत पहले छूट चुके होते है
पांवों से वडे होते हैं वैसाखियो के पाव
इसी लालच में आदमी इन्हे लेता है
लम्बी वैसाखियों के वदले
आदमी छोटे पांव दे देता है
जहाँ आदमी और पांव के बीच दूरी है
वहाँ वैसाखी मजबूरी है
माना वैसाखियों के सहारे चलने में गौरव है
माना वैसाखियों का अपना है साथ
पर वैसाखियों का भरम टूटने में भला है
क्योंकि इनने पांवों को छला है
जहाँ आदमी अकेला है
वहाँ आदमी का पांव है
जहाँ आदमी के कोई साथ है
वहाँ किसी न किसी वैसाखी का हाथ है
हम सभी
कोई न कोई
वैसाखी लिए है
हम उसी मे जिये हैं
ज़िन्दगी
वैसाखियों का जंगल है

बहुत दूर
आदमी का गांव है
आदमी चलता जा रहा
थक गया आदमी का पाव है

(1976)

वही तो

जो एकान्त ने बुना
वही तो सुना
मौन ने गढ़ा
वही तो पढ़ा
मुझे जो दिखा
वही तो लिखा
मैंने जो सहा
वही तो कहा

(1974)

मंच

आखिर कब तक हम
गोदो के इन्तजार में
सामने के मंच की ओर
ताकते रहेंगे
और नेपथ्य से आने वाले
उल्लू के पट्ठों से सम्बोधित होते रहेंगे
सामने का मंच
जो नीचे का आकाश है
जहाँ बारिश होती है
हम दर्शक
रेगिस्तान में खड़े हुए
मंच पर सुविधा है
दुविधा से बचने की
दर्शक को
कान और आँखें खुली रखनी पड़ती है
कभी-कभी नाक भी
यदि पास में सुगन्ध हो
रचना की तरह पड़े रहते हैं हम दर्शक
खड़े हो जाते हैं लोग सामने
शीर्षक की तरह
(फोटो खिंचने के समय तक
मालाओं को धारण करने से अच्छा है
अज्ञेय की कविता की तरह
फूल वहीं समर्पित हों
जहाँ वे उगे हैं

दूसरी तरफ गण्डे और तावीज की तरह
पड़ी रहती है मालाएँ
रजनीश के चित्र सहित
भूरी पोशाक के साथ
अंग की तरह)
कविता
लंबी होती जा रही है
रात की तरह
अभी सूरज
एक शीर्षक की तरह आयेगा
रात का अस्तित्व मिट जायेगा
मुझे उस समय का इन्तजार है
जब जादू की तरह
सामने से मंच हट जायेगा
हम एक दूसरे के सामने
भौंचक्के से खड़े होकर
धीरे-धीरे बतियाएंगे
सामूहिक जल-पान का-सा दृश्य होगा
हलका-फुल्का
हिलते-डुलते नज़र आएंगे हम
एक लय की तरह

(1982)

कुतुबकथा

कुतुबमीनार ने
दीनार की तरह दे दी
पैंतालीस लाशें
आओ तलाशें
ये हिन्दू भवन है
या इमारत मुगलिया
इसने क्या दिया
पैंतालीस मुमताजों का एक और ताजमहल

ये आसमान को छूने की नाकाम कोशिश
अहम् को दिखाने की भीतरी हविश
ये सूखा लक्कड़ है अकड़ाया हुआ
ये खजूर का पेड़ है पथराया हुआ

पहली ही मंजिल का ये हादसा है
एक और इतिहास वहाँ जाकर बसा है
जुम्मे का दिन था मुफत का मजा था
घड़ियों में दोपहर का बारह बजा था
आदमी ही आदमी चढ़ते गए थे
एक-एक के पीछे बढ़ते गए थे
कि अचानक अंधेरा हुआ
आदमियों का तंग घेरा हुआ
बदमाशों ने की गड़बड़ी थी
भौंचक्के लोगों में मची हड़बड़ी थी

लोगां तेजी से नीचे उतरने लगे
बचाने के चक्कर में मरने लगे
मौत के आगोश को भरने लगे
लोगां की सासां घुटने लगी
एक-एक जिनगानी लुटने लगी
बन्द हो गए सीने धड़कते हुए
लुढ़कते-लुढ़कते हुए
कुतुब के द्वार आए शरीर बिनके
जैसे कपड़े फेंकता हो धोबी गिन गिनके

(1981)

दरवाजे

दरवाजों पर हौले से दस्तक दो
यह उनके प्रति सम्मान है शिष्टता है
दरवाजों के पास खड़े होकर आवाज दो
ये उनके प्रति उपेक्षा है अवहेलना का भाव
दरवाजों को खड़खड़ाओ
ये उनके प्रति शिकायत है उलाहना
दरवाजे पर की घण्टी घनघनाओ
ये अनिवार्य औपचारिकता है निर्जीव व्यवस्था
उनके प्रति अलगाव है
प्यार भरी दस्तक नहीं है
यहाँ दरवाजे तो हैं ही नहीं
कभी तुमने घनघनाहट की जगह
संगीत सुना है
तुम मृदुल हो या कठोर
संगीत तो मधुर ही उत्पन्न होगा उन घण्टियों से
कहीं-कहीं सलाखों में से देखना भर होता है
दरवाजों के बाहर से भीतर
चप्पलों के होने से उनका होना

दरवाजों के बाहर झांकती रोशनी
या भीतर फैलते हुए अंधकार से
कभी तो लौट आए हैं मेरे पांव
कभी बढ़ गए हैं कदम
घने होते हुए अंधेरे में पहुंचने का मतलब है
थोड़ी देर का उजाला और भ्रम कि अंधेरा भग गया

फिर वही सिमटता हुआ उजाला
फैलता हुआ अधकार
दरवाजे को खोलने पर
घसीटे जाने से उत्पन्न चिल्लाहट
घर के भीतर की चीख है
कही दरवाजे नही होते
फाटक होते है बड़े-बड़े फाटक
तो ये भी सही है
वहाँ घर नही होते
आदमी के लिए घर जरूरी है
घर के लिए दरवाजे
जहाँ फाटक होते हैं
वहाँ होता है आम रास्ता
इन रेल्वे फाटकों का भी अजीब रवैया है
ये बन्द होंगे तो इनके भीतर से गुजरेगी रेल
खुले होंगे तो गुजरेगा आदमी का रेला
बन्द होंगे तो बनाएगे गली
खुले होंगे तो बनेगा रास्ता
दरवाजा चरमरा रहा है
दीवारो पर दरारें मिलेंगी
दरवाजा लडखड़ा रहा है
मिलेंगे खण्डहर अन्दर
कही से निकले दरवाजा बन्द कर दिया
तुम अपनी याद छोड़ना नही चाहते
वहाँ की याद रखना नही चाहते
कही से निकले किसी ने दरवाजा बन्द कर दिया
निकलना वास्तविकता मिलना दिखावा था
कही से निकले दरवाजा बन्द हो गया
ये दरवाजे की आदत है
ऐसे दरवाजे ज्यादा बार खुलते है
ये स्वाभाविकता है नियम है सार्थकता भी

दीवारें क्या हैं ?
कभी न खुल सकने वाले दरवाजे
दरवाजे क्या हैं ?
हमेशा खुल सकने वाली दीवारें

(1975)

घर

ये घर आपका है
आप यहाँ रहते हैं
ये आप नहीं घर कहते हैं
कहते हैं आओ बैठो बोलो
अपने मन के अवचेतन की गांठें खोलो
सब घर नहीं कहते
अपनों के दु:ख को सब नही सहते
एक के आंसू सबको नहीं भिगोते
सब घर एक से नहीं होते
घर भगाते है काटते है खाते हैं
किसी कारण कोई जब मजबूर लगता है
उसको अपना घर दूर लगता है
कभी घर पास होता है कभी उदास होता है
छोटे घर बड़े घर खड़े घर पड़े घर
घर रोकते हैं घर टोकते है
जिधर देखो उधर घर दीखते हैं
कहीं-कहीं घर चीखते है
घर के भी दिल होता है
कभी-कभी घर रोता है
कभी घर में होते हुए भी हम घर में नही होते
उस समय घर घर में नही होता
बाहर होता है
घर आदमी होता है आदमी घर होता है
कभी घर घट जाता है
कभी घर बंट जाता है

दुनिया में आदमी बढ़ रहे हैं
पर घर घट रहे हैं
घरों में से घर हट रहे हैं
घर में आदमी रहता है
आदमी में घर रहता है
आदमी के जो अन्दर होता है
वही तो घर होता है
जब तक घर है आदमी रहेगा
घर का अस्तित्व नहीं रह पायेगा
दुनिया से आदमी मिट जायेगा

अब जबकि तुम नंगे हो गए हो

कपड़ों के अन्दर तो सभी नंगे होते हैं
ये नई बात नहीं है
ये कोई बात नहीं है
तुम तो कपड़ों के बाहर नंगे हो
अब जबकि तुम नंगे हो गए हो
तुम्हारा सब कुछ साफ-साफ है
तुम्हारे सब कुछ सामने है
और जो है
वह उस सबसे अलहदा है
जिसे तुम अब तक दिखाते रहे हो
और जो है
उस सबकी अभिव्यक्ति अनिवार्य है
अब जबकि तुम नंगे हो गए हो
तुम्हारा रूप मेकप की पपड़ी है
जिसके पीछे झुरियों का जाल बिछा है
झुरियों का जाल छिपा है
तुम्हारे भीतर का रूप गजानन है
जिस पर महानताओं के मालीपन्ने
चढ़ा-चढ़वा कर
तुम बाहर से भैरू बन बैठे हो
हाथी का मुख रख कर
आदमी का-सा सुख तुमने भोगा
खाने के और दिखाने के और
यानी हाथी के दांत और आदमी की आंत
तुममें रही है

दब्बू चूहों की सवारी तुमने की है
तुम्हारे आसपास जीवन के भय से भागने वाले
चूहे ही मिलेंगे
कायर चूहों के बीच विराजमान तुम
जिसकी नज़र हमेशा दूसरों के लड्डुओं पर रही है
तुम्हारे चूहों ने
कुतर-कुतर कर दूसरों की कतरनें
तुम्हारे जीवन का कुरता बनाया है
कि जिससे तुम पर भेरू आया है
किसी भी भाटे को भेरू बनाना कितना सरल है

दूसरों की घिसी पिटी अनैतिकता को
घिसने पीटने में निहित है तुम्हारी नैतिकता
तुम्हारी बुद्धि
एक पुराने टेप रिकार्डर की
बहुत पुरानी टेप है
जिसकी ध्वनि
भीड़ के कोलाहल की तरह तीव्र
किन्तु निरर्थक है
जिस तरह घूंघट काढे कोई औरत
नव-वधू हो सकती है
पर हर घूंघट के भीतर सुन्दर चेहरा नहीं होता
हालांकि पर्दा सुन्दरता का भ्रम पैदा करता है
तुम पर औपचारिकता का घूंघट है
जो अनौपचारिक सौन्दर्य का भ्रम पैदा करता है
स्वयं को अति सामान्य, अति सहज और अति सरल
कह कर असामान्य, असहज और असरल समझे जाने की
तुम्हारी असफल चेष्टा
तुम्हारी अपनी बौनी दुनिया के बौने लोगों के बीच
कोने में बसे
बौने आदमी

तुम्हारी विराटता का भ्रम टूटा है
अब जबकि तुम नंगे हो गए हो
तुम्हारे शरीर का वजन
तुम्हारी क्षमता है
तुम्हारा कमरा
तुम्हारा प्रभाव क्षेत्र है
वह भी तब तक
जब तक कि दरवाजा बन्द है
और किसी का प्रवेश नहीं हो रहा है
नये के प्रवेश
पुराने के प्रस्थान के समय
लग जाता है प्रश्न चिह्न
तुम्हारे प्रभाव पर

(1975)

अलविदा

तुम शब्द पर विचार करो
मुझे उससे आगे की यात्राएं तय करनी हैं
तुम शब्द पर ठहरो
ठहरने का समय मेरे पास नहीं है
चल तुम भी रहे हो
चल मैं भी रहा हूं
तुम मील के पत्थर के पास रुको
और सोचो
कि इसे किलोमीटर का पत्थर होना चाहिए
मैं तो ये देख रहा हूं
कि कितने पत्थर पीछे छूटते जा रहे हैं
सफ़र बहुत लम्बा है
समय कम
तुम निकट की चीजों को
देखने-परखने में लगे हो
तुम्हें दूर रस्ते का मोड़ नहीं दीखता है
ये ये है ये ये नहीं है
इन बातों में उलझने से क्या लाभ
इसके होने और न होने के बावजूद
जो होने जा रहा है
मैं उसे देखना चाहता हूं
तुम तय करो
कि सफ़र तय करना है कि नहीं
तब तक मैं सफ़र तय करता हूं

एक-एक बेर को
चख-चख कर
राम को देने वाली श्रो शबरी
तुम्हारे राम को
आराम नहीं है
तुम्हारे राम को
अनन्त काम है
तुम तोड़े हुए बेरों को
पोटली में जोड़ दो
तुम्हारे राम की अनन्त यात्रा के
पाथेय हैं ये बेर
शबरी
अपनी भावनाओं पर गर्व करो
और कर दो राम को
विदा
अलविदा

(1976)

हर आदमी के आस-पास में

हर आदमी के आस-पास में
कुछ न कुछ अन्धेरा है
कहीं ये थोड़ा अगर
तो कहीं घनेरा है

किसी अंधियारे से
आदमी स्वयं ही घिरा
किसी अन्ध कूप में
औरों को साथ ले गिरा
जहर से कौन बच सका
यहाँ सांपों का डेरा है

न आपसे मैं कुछ कहूं
न आप मुझसे कुछ कहें
मैं आपको सहता रहूं
और आप भी मुझको सहें
इस तरह जिन्दगी का
हो रहा बसेरा है

उजालों की ओर आँख कर
आदमी तकता रहा
मंजिलें मिल न सकीं
आदमी थकता रहा
जिन्दगी तो मछली है
आदमी मछेरा है

नीचे आओ

तुम ऊपर मत चिल्लाओ
नीचे आओ
मैं जानता हूं
तुम जानते हो
मैं बहरा नहीं हूं
तुम्हारी आवाज सुनने के लिए
बहुत दूर जाना पड़ता है
पास आओ
गुनगुनाओ
मैं गुनगुनूंगा
सुनूंगा तुम्हारे गीत
मेरे मीत
तुम ऊपर मत चिल्लाओ
नीचे आओ
करीब आओ
फुसफुसाओ
मैं तुम्हारा नाम लूंगा
बुदबुदाओ
गहरे में मैं तुम्हे थाम लूंगा
फिर फिर यही कहूंगा
तुम ऊपर मत चिल्लाओ
नीचे आओ

(1976)

चेहरे पर की सलवटें

चेहरे पर की सलवटें देख कर मुँह मत सिकोड़ो
सलवटें सूरत पर तुम्हारे भी न उभर-उभर कहीं आएं
चिलचिलाती दुपहरी में सही है धूप मेरे चेहरे ने
सौन्दर्य को कब है सहेजा
धूप से बचने सलवटें आ गई हैं
अभिजातपन गहने को चेहरे की सलवटें
तुमने हटा दी
इसलिए सूरत तुम्हारी सपाट सड़क
नज़र आती रही है
चेहरे पर दौड़ती हैं पगडण्डियां अनगिनत मेरे
तुम्हारी राह है सुलझी हुई-सी
स्पष्ट दिशा है तुम्हारे गतव्य की
मैं तिराहे और चौराहे मध्य का रहगुज़र हूं
सामने मैं हू खड़ा
उलझनों पर उलझने खड़ी हैं
सलवटों का रूप धारे
मंज़िल का तो प्रश्न वाचक चिह्न
मेरे चेहरे पर मढ़ गया है
चेहरे पर की सलवटें
देख कर
मुँह मत सिकोड़ो
सलवटें सूरत पर तुम्हारे भी
न उभर-उभर कहीं आएं

(1974)

शहर और मैं

ये शहर
मेरा शरीर है
मैं हमेशा
शहर से अपना विस्तार पाता हूं
या कि
स्वयं को खोजने शहर जाता हूं
दोनों में से एक बात सही है
या तो मैं नहीं हूं
या शहर नहीं है
शहर तो यहीं था
शहर तो यहीं है
मैं खो गया हूं
या कि
मैं शहर हो गया हूं

(1974)

सायास मनुष्य अनायास पशु

उठाया हुआ अहम्
ओढ़ा हुआ ज्ञान
थोपी हुई सभ्यता
बिछायी हुई राहें
मानी हुई मंजिल
हम सबके कहीं भीतर पशु है
जिस पर चढ़ा दिया है हमने
आदमी का खोल
हमारे भीतर का पशु
बार-बार मारता है उछालें
मनुष्य को
सप्रयत्न मनुष्य बनाने का ही नाम है
विकास
हो रहा है ये
कि दब रहा है भीतर का पशु
बाहरी आवरण के निरन्तर बढ़ते बोझ से
चाहते हैं हम
छिप जाये मर जाये सो जाये पशु
जीवित रहे आवरणी मनुष्य
पर ये संभव नहीं है
यदि वह
हमारे सबके भीतर का पशु मर जायेगा
तो सायासता हुआ मनुजत्व होगा
निरर्थक और निष्प्राण
फिर तो हम मरी, सड़ी, सूखी चमड़ी होंगे

जांच आयोग की तरह नियुक्त
हमारा विवेक
धरती की भीतरी पर्तों की तरह
एक के ऊपर एक संस्कार
नारियल की जटाओं की तरह
औपचारिकताएं
भूख, नींद और काम
अनन्त पशुत्व के चिरन्तन प्रतीक
उसके इर्द गिर्द बनाये हुए
मनुष्यता के घेरे
घेरों से घिरी हुई जिन्दगी
जिन्दगी से घिरे हुए हम
सायास मनुष्य अनायास पशु

(1974)

कागजी कविता

कागज फैल गया है
अपनी सीमाओं को लिये साथ
कागज का कोरापन
उसका कुंआरापन है
उसने ढील दी है अपनी काया
मस्तक झुका है
झुका है हाथ
अंगुलियां झेलती है झुक कर लेखनी का साथ
जो स्वयं नत है
स्याही कर रही है कागज की देह पर सयत विहार
या कि वह शृङ्गार रत है
या कि स्याही को गति दे रही है शब्दों को आकार
कागज भर रहा है उसका यौवन उभर रहा है
कागज के भीतर से आ रहे हैं
कागज के बाहर कागज पर के आखर
कागज पर कागज से ऊपर
हर कोरेपन को भरता है
कोरेपन का भीतर
दो राही एक मंजिल एक राह एक सफ़र
यही प्रेम है
प्रेम स्व की खोज की सहयात्रा है
स्याही और कागज के मिलन में
दोनों की स्वतंत्र है सत्ता
दोनों का है स्वार्थ
अपना-अपना आकर्षण

दोनों अपने में हैं अधूरे
दोनों में अपना अपना पूरापन
हमारी दृष्टि सीमित रहती है स्याही तक
कागज का कोरापन कागज की गहराई है
कागज की सतह पर स्याही ला पाती है
शब्दों की चन्द सीपें
सीपें पर सागर नहीं है
हम स्थूलता के अभ्यस्त
हम उथलेपन के आदी
सीपों से सागर को सिद्ध मानते हैं
हम स्वयं को जड़ रहे हैं
औरों की छाती पर
हमारा अपना अस्तित्व खो गया है
औरों से अलग कर अपने को
पहचानना मुश्किल हो गया है
न कागज में अपना स्व है
न स्याही में अपना स्व है
दोनों को जोड़ने की फिर भी विवशता है
जिन्दगी खेल बन कर रह गई है
आदमी खिलौनों में बसता है

(1975)

स्वीकार

नकारो मत जहां तक हो सके
कुछ भी नकारो मत
नकार की प्रवृत्ति विकृति को जन्म देगी
स्वीकार की प्रवृत्ति प्रकृति को जन्म देगी
तुम स्वीकारो जहां तक हो सके
सब कुछ स्वीकारो
जब-जब मैंने ईश्वर को नकारा
लगा कि मैंने स्वयं को नकारा था
जब-जब मैंने ईश्वर को स्वीकारा
लगा कि मैंने स्वयं को स्वीकारा था
स्वीकारो तुम अपनी स्थिति को
स्वीकारो तुम हर परिस्थिति को
स्वीकारना समर्पण नहीं है
नहीं है प्रतीक यह हार का
हम समझने के लिए तैयार हैं
यही मतलब है स्वीकार का
मात्र स्वीकारने से नहीं होता है समर्पण
समर्पण के लिए सहजता चाहिए
सहजता आरोपित नहीं होती
सहजता आती है निजता के दिये

नकारो मत किसी के अस्तित्व को
यह तुम्हारे ही अस्तित्व को नकारना है
नकारो मत किसी के महत्त्व को
यह तुम्हारे ही महत्त्व को नकारना है

स्वीकारने के लिए तुम बाध्य नहीं हो
स्वीकारने के तुम प्रतिपाद्य नहीं हो
यदि तुम स्वीकार न सको किसी को
तो कम से कम किसी को नकारो मत
जो है उसे नकारोगे कब तक
क्या होगा उसे नकारने से
जो नहीं है उसको नकारने की सार्थकता कैसे

निरन्तर नकार किसी खोट को जन्म देगा
निरन्तर नकार से विस्फोट पनपेगा
जिसे जितना नकारा जाता है
उसकी अनिवार्यता उतनी होती है
उसकी मौजूदगी उतनी होती है
उसकी जड़ें गहरी होती है

नकार की वृत्ति जितनी बढ़ रही है
उतनी ही सर्वत्र गड़बड़ रही है
नये और पुराने के बीच जो तनातनी है
वह नकार की ही प्रतिध्वनि है

वे उपवास कर रहे हैं

भूख से मरे हुओं के दुःख में
वे उपवास कर रहे हैं
उपवास भूख का फैशन है
जिसे आत्मा की शुद्धि का नाम दिया जा सकता है
उपवास भूख की सुखद अनुभूति है
क्योंकि भोजन जिन्हें सुलभ है
भूख उनके लिए दुर्लभ है
उपवास से भूख सुलभ हो जाती है
मौत एक षड़यन्त्र है
जो जिन्दा लोगों की तरफ से हमारा ध्यान हटाती है
डनलप पिलो पर झूलते हुए
कूलर की हवा के बीच
भूख और भूखों की बात करना
भोजन को बदमजा करना है
एक मदारी की कला इसी में है
कि वह एक खास जगह से ध्यान हटाता है
एक खास जगह ध्यान लगाता है
आओ ! हम लोगों का ध्यान
मरे हुओं पर ले जायें
ताकि लोग उनको न देख सकें
जो जिन्दा है और भूखे है
जो जिन्दा है और मर रहे हैं
आओ ! एक फालतू और बेजान बहस शुरू करें
कि कितने मरे कैसे मरे
बीमारी से मरे कि भूख से मरे
कुपोषण से मरे कि अफीम से मरे (1983)

चूहों की बात

कागज पर लिखी कविता को जेब में रख कर
मैं यहां तक आया हूं
कविता लिखने और लाने का गौरव साथ लाया हूं
पकड़े हुए चूहों को
क्यों छोड़ते है दूर जगल में
दिखाना चाहते है
कि पकड सकते है चूहे
हमारे पिजरे मे भी फँसते हैं चूहे
इसीलिए पिंजरे के बाहर सलाखें हैं छेद हैं
चूहों को मारो मत
पकड़ कर छोड़ दो बीच जंगल में
पास और दूर श्रोताओं के जंगल है
हा ये चूहे वही से आते हैं
आसपास इधर उधर दौड़ते रहते
जहाँ दूसरी कोई नहीं होती आहट
वहाँ इन चूहों की सरसराहट होती है
अवचेतन अर्द्धचेतन उपचेतन मन की
नालियों मे रहते ये चूहे
चेतन घर मे जब एकान्त पाते हैं
नालियों से बाहर चक्कर लगाते है
कभी कभी ये चूहे पलायन का प्लेग फैलाते हैं

जीवन और किताबों का अध्ययन रोटी है
कहीं से बड़ी कही छोटी है
मोटी रोटी से मोटे चूहे

या छोटी रोटी से चुहिया नही फँसती
रोटी होनी चाहिये
बड़ी या छोटी होनी चाहिए
कई बार पिंजरे में कई आ जाते हैं चूहे
कई बार कई दिनों तक एक चूहा नही फँसता
कवि चूहे को मारता नहीं है
उसे पकड़ कर छोड़ आता है बीच जगल में
कविता घर के लिए जंगल के लिए लिखी जाती है
ये बात अलग है कि वह घर आ जाती है
ये जंगल चाहे भीड़ का हो या भावनाओं का
जनता का हो या संभावनाओं का
चूहों को जगल में छोड़ने में
चूहों की अपनी मुक्ति है
चूहों से अपनी मुक्ति है
पर साथ में है प्रदर्शन की भावना भी
आलोचना की बिल्ली झपटती चूहों पर
जिसके डर से भागते चूहे इत उत
पर बिल्ली अपने बच्चों को नहीं खाती
रहते हैं अधेरे मे ये चूहे
उजालों से इन्हे डर लगता है
कब छोड़ा इनको उजालों ने
अधेरा इसलिए इन्हें घर लगता है
जंगलों में छोड़ने के बावजूद फिर से आ जाते हैं ये
ये चूहे मेरे नही हैं मैंने नही जाये
ये तो मेरे पिंजरे में खुद ब खुद आए
जनता के जंगल की सम्पत्ति है ये कविता के चूहे
चूहे पकड़ने और छोड़ने का जारी है सिलसिला
खाली पिंजरा लिये कवि घर जायेगा
डाल कर रोटी चूहे फंसायेगा
बीच जगल छोड़ने कवि एक दिन फिर आयेगा

(1976)

सड़क पर की ज्यामिति

सड़क पर चलते हुए लोग
कि ज्यामिति के आकार
दुर्घटना : ज्यामितीय अशुद्धि
सड़क पर की समूची गतिया
ज्यामितिज्ञ की कलम से अंकित ज्यामितीय आकृतियां
सड़क पर के बिन्दु अलग-अलग या साथ
अद्वैत में द्वैत या द्वैत मे अद्वैत
सड़क पर की सरल रेखा
लीक पर चलने वालों का लेखा
सड़क पर की रेखाओं का जाल
विकल्पों मे से संकल्प का सवाल
सडक पर के कोण
जीवन के आयाम
सड़क पर के वृत्त
अनन्त यात्रा मे प्रवृत्त
सड़क पर की ज्यामिति
ईश्वर की भाषा
जीवन की परिभाषा
आदमी की अभिलाषाओं की मिति

(1975)

गली और सड़क

गली एक वधू है और सड़क वैश्या
एक तरफ लज्जा की सकुचाहट
दूसरी तरफ निर्लज्जता का विस्तार
एक पर परिचित पदों की चाप
और कभी-कभी अपरिचितों के हिचकते हुए कदम
या निरपेक्षता की सपाट चाल
दूसरी पर साधिकार गमन विस्मरणीय कदम
सड़क किसे भूले किसे पहचाने
किसको कहे पराया वह किसको अपना माने
सड़क जैसे ही अभागे हैं सड़क के कुत्ते
न परिचित गन्धी लोगों का आवागमन
न निवासी के आसपास से अपनापन
न रात की बेफिक्री
कहाँ सिमटी सिकुड़ी संकरी गली
कहाँ चौराहे, तिराहे, दोराहे में फैली सड़क
सड़क का अन्तहीन विस्तार
कहाँ मकानों से घिरी गली
कहाँ दुकानों से घिरी सड़क
प्यार के प्रतीक मकान
व्यापार की प्रतीक दूकाने
स्वार्थ के लिए खुलने वाली दूकानें
स्वार्थ के लिए काम आने वाली सड़क
सड़क सभ्यता है गली संस्कृति
सड़क औपचारिकता है गली अनौपचारिक
सड़क आधुनिकता है गली आंचलिकता (1975)

आदमी और सांप

सांप पालने के शौकीन !
जो भीतर होगा उसी को पालोगे
साप को पालो सांप को दूध पिलाओ
साँप दूध ही पीता है
सांप से कुछ पीना चाहोगे वह जहर पिलायेगा
नहीं पीना चाहोगे तब भी
उसके पास जहर ही है
तुम्हारे नही पीना चाहने का प्रश्न नहीं उठता
तुमने उसे पाला इसीलिए
कि दूध पिलाकर जहर पी सको
बात वही है
तुमने उसे दूध का जहर पिलाया
वह तुम्हें जहर का दूध पिलायेगा
तुम्हें दूध पिलाकर जहर पीने की कला खूब आती है
तुम आदमी हो ना
चाहकर भी सांप को जहर नहीं पिला सकते
आदमी को पिला सकते हो
सांप चाहकर भी दूध नही पिला सकता
उसे जहर को दूध बनाने की कला नहीं आती
क्योंकि वह आदमी नहीं है
यह आदमी की जरूरत है कि वह साप पालता है
आदमी, आदमी को नही पाल सकता
जब वह ऐसा करता है
आदमी साप में बदल जाता है
हर बार आदमी बनने के लिए सांप ने केंचुल उतारी

पर वह हर बार सांप बना रहा
जब भी आदमी ने सांप बनने के लिए चोला बदला
वह सफल रहा
सांप को आदमी बनने की कला नहीं आती
यह उसकी मजबूरी है
आदमी को सांप बनना आता है
यह उसकी विशेषता है
सांप से डंसने की शिकायत मत करो
यह उसका स्वभाव है
ज़हर आदमी में भीतर का ज़हर सालता है
इसीलिए आदमी सांप पालता है
ज़हर से ज़हर मिटता है ज़हर ज़हर में सिमटता है
आदमी में ज़हर की प्यास है
आदमी को ज़हर की तलाश है
हालांकि आदमी बाहर से हंसा है
पर हर आदमी को उसके साँप ने डँसा है
यह संपायी हुई दुनिया है
हर आदमी ज़हराया है
कोई आदमी सांप से नहीं बच पाया है
रात—सांप की केंचुल है
दिन—केंचुल उतारा सांप है
दुनिया—सांप का शहर है
जीवन—सांप का जहर है
जीवन-पथ लहराया हुआ सर्प है
मृत्यु—सर्प का दंश है
जहर—मनुष्य की संचित संस्कृति है
आदमी—सर्प का वंश है

(1975)

क्रमशः

जिन्दगी एक धारावाहिक रचना है
लिखी जा रही यह रचना क्रमशः
हर घटना क्रमशः घट रही है
घट रही है हर घटना क्रमश.
क्रमशः हो रहा है सब कुछ
सब कुछ क्रमशः कर रहे हैं
हम सब क्रमशः जी रहे हैं
हम सब क्रमश· मर रहे हैं
दीपक क्रमशः बुझ रहा है
दीपक क्रमशः जल रहा है
हर दिन क्रमशः पल रहा है
हर दिन क्रमशः ढल रहा है
हम सब क्रमशः आ रहे हैं
हम सब क्रमशः जा रहे हैं
क्रमशः खो रहे हैं हम सब
हम सब क्रमशः पा रहे है
क्रमशः हम सब कट रहे हैं
क्रमशः हम सब हट रहे है
मिट रहे है हम सब क्रमशः
क्रमशः हम सब घट रहे हैं
पूर्णता की प्राप्ति हेतु मनुज
क्रमशः रीतता जा रहा
भविष्य की चेष्टा में मनुज
क्रमशः वीतता जा रहा

धाराएं ढलान की ओर बह
क्रमशः सागर बन रहीं
उठ कर धूएं की आकृति
कहती कहानी अनकही
यही पता नहीं चल रहा
कौन किसमें से निकल रहा
उजाला अंधेरा निगल रहा
उजाला अंधेरा उगल रहा
रात कि सूरज चन्दियाया
दिन कि चांद सूरजियाया
छायित हो रही धूप
धूपित हो रही छाया
सागर का कोई तल नहीं है
सागर की कोई सतह नहीं है
तल क्रमशः उठ रहा है
सतह क्रमशः ढह रही है
ह्रास और विकास के चक्र में
घूमता जा रहा आदमी
कभी नयन उल्लसित हो रहे
कभी उनमें छा रही है नमी
स्वप्न और जागृति के बीच में
विभाजन की महीन रेख है
यथार्थ और कल्पना के रूप में
व्यक्त हो रहा सत्य एक है
प्रश्न स्वयं उत्तर दे रहा है
उत्तर स्वयं प्रश्न कर रहा है
मृत्यु क्रमशः जी रही है
जीवन क्रमशः मर रहा है

(1975)

पुल

दो स्थितियों के बीच की स्थिति हो
या नति हो
जोडते हो
किन्तु केवल जोड़ते ही नही
जुड़ते भी हो
तटस्थ हो पर निष्क्रिय नहीं
मध्यस्थ हो पर तुम्हारा विस्तार तुम तक ही नही
इस छोर से उस छोर तक फैलाव तुम्हारा
तुम नहीं रहोगे स्थितियां तो रहेगी ही
रिक्तता तो रहेगी ही
रिक्तता जो स्थितियो को जोड़ेगी
पर विवशता होगी न मिल पाने की
किन्तु भान होगा
एक दूसरे के होने का एक दूसरे को
तुम्हारी रिक्तता को भरेंगे दृष्टियो के सेतु
तुम माध्यम हो मात्र माध्यम
तुम साधन हो साध्य नही हो
पुल होना तुम्हारी नियति है
तुम्हारा अपना कोई पक्ष नही है
तुम कोई पक्ष नही हो
तुम हो
पर होकर भी नही हो
तुममे तुम्हारा कुछ नही है मौलिक कुछ नही है
तुम्हारा भावना से वास्ता क्या
तुम हो इसलिए कि तुम्हें होना चाहिए

वस इतना ही तुम्हारा इष्ट है
तुम निस्वार्थ हो
औरों के लिए अपेक्षित हो अनिवार्य हो
उपयोग है तुम्हारा
यह दुर्भाग्य है तुम्हारा पर कर्त्तव्य भी है
तुम पुल हो और पुल ही रहोगे या फिर नहीं रहोगे
पुल होना तुम्हारी स्थिति है स्वीकार लो तुम
तुम्हारे नही चाहने से क्या होगा
तुम नही होगे कोई और होगा
पुल को होना ही पडेगा
यह तुम्हारी महानता है
इस पर औरों की प्रतिक्रियाएं नही चाहते
क्योंकि तुम प्रतिक्रिया नहो हो पर क्रिया भी नहीं हो
तुम शान्त हो पर हलचल से तुम्हारी सार्थकता है
तुम निरभिलाषी हो पर अभिलाषाएं तुम पर से गुजरती है
तुम पुल हो ये तुम्हारी वास्तविकता है
यह युग पुलों का युग नहो है
प्रतिकूल है युग के पुल होना
जो पुल होंगे या बनेंगे
उन पर दुश्मनों की रहेगी दीठ हरदम
वे स्वयं ही जर्जरा कर टूट जायेंगे या तोड़े जायेंगे
पुल दो को जोड़ता है भ्रम है
जुड़ कर भी एकाकार कब हो पाये
कब मिटी है दो के बीच की दूरियां
पुल तो अवरोध दो के बीच का है
पुल अकेला है
अकेले तो और भी हैं पर सब पुल नहीं है
पुल का अकेलापन
दो वस्तियों के बीच का वीरान है

(1974)

मैं, मेरा शहर और माछर

इधर मेरे शहर में माछर बहुत बढ़ गए है
बड़े हो गए हैं आदमी के जित्ते
विरो भर जगह घेरते है ये
पर भरपूर चांटा सहना पड़ता है अपने ही गालों को
इन्हें मारने के लिए
कई एकों ने सलाह दी है माछरदानी ओढा करूं
पर वादों से बनी और बुनी माछरदानी
सुविधा और समझौते की व्यवस्था है
कुछ एकों ने शरीर पर तेल लेपने को कहा है
पर ये तो इन माछरों को अनावश्यक महत्त्व देना है
तेल कूप में मण्डूक की-सी स्थिति स्वीकार्य नही है
सिर्फ माछरों से रक्षा कार्य नही है
मकानों को बन्द करने से ये रुकेंगे नहीं
कानों को बन्द करने से काम नहीं चलता
बन्द मकान आत्म-प्रेम आत्म-ग्रस्तता आत्मा रति है
कान तो मीठे पानी की नदियों के आगमन के द्वार हैं
क्योंकि मेरे मुंह में एक समुद्र है
जिसमें शब्दों का खारा पानी विराजता है
पानी का खारापन मेरी नही सागर की विवशता है
इन्ही कानों के आसपास ये माछर भिनभिनाते हैं
भुनभुनाते हैं
क्या इनकी हलचल नदी के पानी की कलकल तो नहीं है
कुछ भी हो इतना सही है
कि इधर मेरे शहर में माछर बहुत बढ़ गए हैं
बड़े हो गए है आदमी के जित्ते (1975)

तुम्हारी टांग और मेरे पांव

धंस जाती है बहुत गहरे तुम्हारी टांग
क्योंकि उसके मिट्टी पर से उठने के बाद
और मिट्टी पर गिरने से पहले
खुदे रहते है खड्डे
तुम कहते हो तुम्हारी टांग कहां नहीं है
छलनी हो गए हैं मेरे पांव
जो उठते हुए निरन्तर
गिरते रहे है पत्थर पर
उठे हुए पांवों को देख कर ही तो मैं कहता हूं
मेरे पांव जमे नहीं हैं

(1976)

तुम्हारे भीतर एक ऋषि विराजता है

मैंने देखा है
तुम्हारे मस्तक पर उलझन की रेखा है
चीर कर चेहरे की चिकनाहट
देती है ग्राहट
तुम्हारे भीतर एक ऋषि विराजता है
जिसका सबको नहीं पता है
तुम्हारी चञ्चलता एक लाई हुई चीज है
तुममे स्थिरता का बीज है
तुम्हारे वचन
तुममें स्थित ऋषि को प्रमाणते हैं
तुम्हारी प्रसन्नता के कहीं भीतर एक व्यथा है
जिसकी अपनी कथा है
तुम्हारे भीतर जो गुनी है
उसने सबकी कथा सुनी है
तुमने अपने जीवन में कितनी कथाएं सही हैं
पर एक भी नहीं कही है
तुम्हारी दृष्टि का केनवास बहुत बड़ा है
जिसमें तुम्हारे अनुभवों का संसार खड़ा है
तुम्हारा मौन कहता है
तुम्हारे भीतर एक ऋषि विराजता है

(1976)

साहेब नाटक

नाटक साहेब
या तो जिया जा सकता है
या किया जा सकता है साहेब
अब आप जा सकता है साहेब
लिखे हुए को जीना
जिये हुए को लिखना
दो बात है साहेब
किये हुए को जीना
जिये हुए को करना
चार बात है साहेब
लेकिन ये छः बात नहीं है साहेब
साहेब घर में नहीं है साहेब
नाटक अगर आखिर तक नाटक न हो तो
नाटक हो जाता है साहेब
नाटक का नाटक हो जाये
तो ये क्या नाटक है साहेब
नाटक इधर है और फाटक उधर है साहेब
नाटक किधर से शुरू होता है साहेब
नाटक घर से शुरू होता है साहेब
पहले घर का नाटक होता है साहेब
फिर नाटक का घर होता है साहेब
ये साहेब साहेब किया करता है साहेब
हम नाटक किया करता है ना साहेब
इसलिये साहेब
अच्छा साहेब

(1977)

शब्द और रोटी

बहुत हाथ पांव मारने पर भी
जब कुछ हाथ नहीं आता
नियति जन्म लेती है
ढील दिये जाते हैं हाथ और पांव
संसार सिमटता है तब मन विस्तार पाता है
तन सिकुड़ता है
शब्द विस्तार का आकार खींचता है
मौन सिकुड़न की अभिव्यक्ति करता है
शब्द करते है विस्फोट हवा में
आदमी की आंखों के सामने आ जाती है रोटी
छा जाती है रोटी
सिर्फ रोटी दीखती है
रोटी भी दीखती ही है
रोटी को हटाने से पहले
रोटी को पाने की कोशिश में
छूट जाता है जीवन
रोटी वहीं की वहीं लटकती रहती है
पेण्डुलम की तरह
गांधारी की आंखों पर लगी
और बंधी पट्टी की तरह
सलीब की तरह

(1975)

कार्टून

आड़ी तिरछी रेखाएं
कुछ बिन्दु कुछ गोलाइयां
टेढ़ी मेढ़ी शक्लें
ये जो आपकी नज़र में विकृति है
वह मेरी कृति है
मेरे निर्माण में नहीं चाहिए
कोई विराट कल्पना
या सुन्दर सपना
जटिलता और सुन्दरता मुझमें घुलमिल गई है
परम्परागत सौन्दर्य की नींव हिल गई है
जिस सुन्दरता का अभ्यस्त आदमी रहा है
उससे अलग मेरी सुन्दरता है
आज का जीवन मुझमें आ कर खो गया है
या कि वो मेरे जैसा मेरे जित्ता हो गया है
कम से कम बिन्दुओं और रेखाओं में
मैं जीवन को देता हूं आकार
मेरा अपना बौना संसार है
जिसमें जीवन के लम्बे आदमी झांकते हैं
काल के अन्तराल में आदमी का अस्तित्व
वह मैं हूं
आप किसी भी भाषा के भाषी हैं
किसी भी प्रांत या देश के वासी हैं
मुझे पढ़ सकते हैं
पढ़ कर अपने आप से लड़ सकते हैं
लापरवाही और एकाग्रता जहां मिलते हैं

वहां मेरे सृजन की संभावना है
सीधी रेखा खीचना टेढ़ा काम है
किसी ने यह जो कहा है
मुझ पर सटीक रहा है
मैं सरल हूं ये सही है
पर मुझे बनाना सरल नहीं है
मैं हूं भी और नही भी हूं
है और नही के बीच में हूं मैं
मैं आकार हूं और नहीं भी हूं
सत्य हूं कटु सत्य हूं पर प्रिय हूं
अधूरा हूं स्वयं में
द्रस्टा में है जिसका पूरापन
जीवन की विसंगतियां मुझमे पाती है संगति
कैद है मुझमे एक क्षण या स्थिति
एक ठहराव या गति
मैं आप पर हंसता हूं
मारता हू मैं मुस्कराते है आप
माध्यम हूं मैं किसी ऐसे कथ्य का
जो सीधे नही कहा जा सकता
मैं आपका दर्पण नही हूं एक्सरे हूं
जितना पास हूं आपके अर्थ में उतना परे हूं
सकेत भर हूं ऐसे स्वरूप का
जिसे विस्तार देते है आप
देते है अर्थ भी आकार भी
अपने मूल में कड़वी औषधि हूं
जो विकृति के आकार
या आकार की विकृति की शक्कर से सनी है
नेगेटिव और पॉजिटिव के बीच मे
यदि तीसरी स्थिति संभव है तो वह मुझसे बनी है
बिन्दुओं के वर्णों रेखाओं के शब्दों की मेरी भाषा रही है
मैंने ये बात आपकी भाषा में कही है

(1976)

काम में लगे मेरे तमाम दोस्तों के नाम

मिल गई पगडण्डी पर विचरने वाले तुम
चौराहों से गुजरने वाला मैं
चौराहों से चौराहों तक का रहगुज़र
कहीं ठिठकता
कहीं हिचकता
चला जा रहा चला जा रहा
गति से दूर स्थिति पर रुके हुए तुम
किसी से नही रुष्ट
संतुष्ट
प्राप्त के उपयोग और उपभोग की
उधेड़बुन में लगे तुम

(1976)

इस वार हम लेट हो गए हैं

गाड़ी तो समय पर आ गई है
समय तक ठहर गई है
समय पर चली गई है
पर इस वार हम लेट हो गए है
इससे क्या फरक पड़ता है
अगली गाड़ी मिल जायेगी
अगली और पहली
हम जितने लेट हुए हैं
उतने अगली के समीप हुए है
हर वार गाड़ी लेट होती है
इस वार हम
हम लेट नहीं होते गाड़ी लेट हो जाती
प्रतीक्षा दोनों स्थितियों में करनी पड़ती
करनी पड़ी है
लेट हो जाने से यात्रा समाप्त नहीं हुई
स्थगित हो गई है
स्थगित होने तक समाप्त हो गई है
यात्रा की समाप्ति स्थगित हो गई है
हम लेट न होते
गाड़ी लेट न होती
कौन प्रतीक्षा करता किसकी
एक शून्य पैदा हो जाता
जिसकी प्रतीक्षा नहीं कर सकते

शून्य से बचने के लिए की है प्रतीक्षा
प्रतीक्षा भी शून्य है
जिससे बचना चाह कर भी बच नहीं पाते
लेट होना शून्य का विस्तार है

(1976)

मैं परास्त हूं फिर भी प्रस्तुत हूं

प्रश्नों के अस्त्र और जिज्ञासाओं के शस्त्र लेकर
प्रस्तुत हूं मैं हालांकि परास्त हूं
मैं यह जो तुम्हारे समक्ष परास्त हूं
यह मेरी तुम्हारे प्रति श्रद्धा है
मैं प्रस्तुत हूं
यह मेरी जमीन है संकल्प है
वह मेरे भीतर कही न कहीं रहा था
जो मैंने जब-जब कहा था
हालांकि वह दिया नहीं गया
जो कहा गया वह जिया नहीं गया
इसीलिए मैं परास्त हूं
क्योंकि
सीमा का सत्य अज्ञेय है अज्ञात है
असीम का सत्य ज्ञेय है ज्ञात है
मैं प्रस्तुत हूं
क्योंकि
जीवन संभावनाओं की शृंखला है
हर क्षण शुरुआत का क्षण है
परास्त हूं
क्योंकि विलम्बित हूं
प्रस्तुत हूं क्योंकि अन्तराल अन्तराल है
चाहे क्षण का हो या अनन्त काल का
उसके बाद वही है जो छूट गया है
शुरुआत सिलसिले की जो टूट गया है
परास्त हूं क्योंकि मेरे पास स्थूल घटनाएं नहीं हैं

जो इतिहास बनाती हैं
मेरे पास सूक्ष्म संकेत हैं
जिनसे सृजन की सृष्टि जन्मती है
सूक्ष्म अंकुर हैं जिनसे वृक्ष फूटते हैं
परास्त हूं परन्तु युद्ध समाप्त नहीं हुआ है
प्रस्तुत हूं ये मेरी चुनौती नहीं है
मेरा धर्म है
परास्त हूं ये मेरी हताशा नहीं हैं
आत्म स्वीकृति है
मैं प्रस्तुत हूं परास्त होने के लिए भी
प्रस्तुत हूं उस परिणाम के लिए
जो अनिश्चित है
पर अवश्यंभावी है
मैं परास्त हूं फिर भी प्रस्तुत हूं

(1976)

बात कुछ भी कहो

बात कुछ भी कहो
सब बातों का एक मतलब होता है
बशर्ते कि मतलब की बात न की जाय
क्योंकि मतलब की बात का कोई मतलब नही होता
मतलब मतलब है और बात बात
बात बात है और जिन्दगी ज़िन्दगी
ज़िन्दगी बात नही है
इसलिये सब बातें अधूरी हैं
फिर भी बात कुछ भी कहो
सब बातों का एक मतलब होता है

महान किसे कहें जब सब एक स्तर के हों
किसे कहें बड़ा जब सब की एक ही हो नाप
उजला किसे कहें जब सबका निखार हो समान
रेखाएं अंकित करें तो कहां
जब सब जगह उभार हो समान
बात करते-करते बात फिसल जाती है
करें भी तो क्या बस नहीं चलता
हर बात हर बात से जुड़ी है
हर बात हर बात के लिए है
हर बात में छुपी है हर बात
ये कोई अद्वैत दर्शन नही है
ये तो जीवन की वारदात है
कि बात कुछ भी कहो
सब बातों का एक मतलब होता है

सतहाई हुई बात कि बात का वहम
गहराई हुई बात कि बात का अहम
सहमी सहमी बात गलतफहमी बात
चुक गई बात चूक गई बात यदि रुक गई बात
गही गई बात कही गई बात
जो रह गई बात वो रह गई बात
जो स्थूल मे है बात वही मूल में है बात

बात कहाँ से उठी कहाँ जाकर थमेगी
बात कहाँ से चली कहाँ जाकर रुकेगी
किस बात की शुरुआत किस बात पर खतम
बात के बीच में से बात का जनम
चाहे सिमटी हुई बात हो या फैली हुई बात
बात कुछ भी कहो सब बातों का एक मतलब होता है

(1975)

नींद क्यों रात भर नहीं आती ?

कॉफी हाउस
और बिहारीलाल दूबे की चाय की दुकान में
कोई फरक नहीं है मेरे दोस्त
बहस दोनों जगह की जा सकती है
खोखली और बेजान बहस
एक जगह अभिजात का मुलम्मा है
तो दूसरी जगह मुगालता है आम आदमी होने का
गंतव्य गलत हैं दोनों जगह
क्योंकि सृजन मजमा नहीं है
वह तो अकेले की अकेले में यात्रा है
यातना है संघर्ष की
जो झेला है अकेले ने
मंच मसीहा बनाता है मेरे दोस्त
चाहे वो कुर्सिया हों किसी केन्द्र की
या मंगलसिंह की मुड्डियां
कई चेहरे जब एक चेहरे के इर्दगिर्द होते है
प्रभामण्डल बनाते हैं
प्रभामण्डल चेहरों का कमण्डल नहीं है
वह तो है एक तेजोदीप्त चेहरा
एक न-कुछ सबकुछ बन जाता है
सब कुछ हुआ न कुछ भूल जाता है
अपना न-कुछपना
जैसे सांगीलाल नाचते हुए
भूल जाता है अपने पुरुष होने का अहसास
अवतरित होना कितना सरल है मेरे दोस्त

एक खास जगह एक खास समय
यूं ही दर्शन देते रहिये
बहुत जल्द परचा पढ़ना शुरू होगा
बहुत जल्द उतरेगी दैनिक आरती
बहुत जल्द चढ़ने लगेगा परसाद
और चार कहार मिल कर ले जावेंगे
आपकी खिसियानी मुस्कुराहट मे
भर जायेंगी व्यंजनाएं गहरी
आपकी उपेक्षा लोगों पर कहर ढायेगी
हर आदमी की जगह यहां तय है मेरे दोस्त
कोई आदमी जगह बदल नही सकता
या तो तय है तुम्हारे लिये भीड़ का कवच
या फिर अकेलेपन का नंगा बदन
छांटने की भी छूट नही है तुमको
क्योंकि तय है तुम्हारी मानसिकता
एक तरफ कोरस
स्वगत कथन
एक तरफ कौरवों का कारवां
कुरुक्षेत्र में दुविधाग्रस्त अर्जुन
कहां तक और कब तलक गिनाऊँ रे दोस्त
कहानी बहुत लम्बी है और रात छोटी
आदमी को अगर नीद आ जाती तो
कहानी का जन्म नही होता

(1983)